ISSN:- 2230-7850 VOLUME-5 | ISSUE-2 | MARCH -2015

INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL

गुप्तकालीन कला के विविध आयाम : एक पुनरावलोकन

राधिका

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय,रीवा (म.प्र.) भारत।

सारांश :–

कला विकास यात्रा की भारतीय परंपरा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। ताम्रप्रस्तर युगीन सैन्धव सभ्यता से लेकर ऐतिहासिक संस्कृति के काल क्रम में इस देश की कला धारा अपने प्रवाहमान स्वरूप की साक्षी है। वैदिक कालीन साहित्य में प्राप्त कलात्मक विचारों का पुरातात्विक प्रमाण अभी अप्राप्य है, किन्तु उसी परंपरा में शिशुनाग, नंद, मौर्य, शुग, सातवाहन, कुषाण, गुप्त आदि शासकों के काल में स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, मृण्मय, धातु, संगीत एवं अलंकरण, आभूषण कलाओं के बहुमुखी विकास में दृष्टिगत होता है, जो कि अत्यंत विस्तृत एवं विशाल है। गुप्तकाल बौद्धिक चेतना का महान युग था। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रतिष्ठित है। यह काल ईसवी चौथी शती के आरम्भ से छठी शती के अंत तक माना जाता है। लगभग तीन सौ वर्षों के इस दीर्घ–काल में भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, संगीत के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। जिसकी पुष्टि तद्युगीन साहित्यिक रचनाओं तथा कलाकृतियों से होती है। गुप्त युग में मंदिरों, स्तूपों, मठों, प्रतिमाओं आदि का निर्माण देश के विभिन्न क्षेत्रों में दृष्टिगत है। उल्लेखनीय है कि गुप्त–कलाकारों ने अपने कला में अध्यात्म के साथ–साथ लोक जीवन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित कर लोगों में सौन्दर्य और आनंद की वृद्धि की, साथ ही इस बात पर विशेष बल दिया कि कला–कृतियाँ चरित्र निर्माण में सहायक बनें।

मुख्य शब्द : गुप्त साम्राज्य, मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत, अभिनव एवं नृत्य कला ।

प्रस्तावना :—

प्राचीन भारत के मुख्य भू—भाग पर केन्द्रिय सत्ता की स्थापना कुशल योग्य एवं उत्साही गुप्त नरेशों के द्वारा हुई। समुद्र गुप्त (पराक्रमांक), चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य), कुमार गुप्त (महेन्द्रादित्य), तथा स्कन्दगुप्त (क्रमादित्य), सदृश मनस्वी गुप्त सम्राटों के अनवरत प्रयास द्वारा पल्लवित एवं संवर्द्धित राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना—क्रिया को 'गुप्त प्रशस्तियों में धरणीबंध' की संज्ञा प्रदान की गई है। गुप्त सम्राट यदि एक ओर अद्वितीय वीर एवं शस्त्रजीवी थे तो दूसरी ओर विद्याव्यसनी, प्रज्ञावान, प्रजावत्सल एवं कला अनुरागी भी थे। फलस्वरूप कलागत उपलब्धि विविध विधाओं में यथा मूर्तिशिल्प, वास्तुकला, चित्रकला संगीत के रूप में प्रस्फुटित हुई।

मथुरा कला जो कुषाण काल में किशोरावस्था में थी, वह चमत्कृत रूप से गुप्तकाल में विकासमान हुई[1] स्मिथ महोदय के अनुसार ''गुप्तकालीन कलात्मक अभिवृद्धि का कारण भारत का विदेशी तत्वों को अतिसूक्ष्मता के साथ भारतीय कला में पिरोकर और अन्य भारतीय तत्वों को सम्मिलित कर भारतीयकरण का रूप दिया गया है। कुषाण कालीन भारतीय कला में आत्मसात किये गये विदेशी तत्वों को सुरूचिपूर्ण ढंग से कलात्मक रूप में विविध सज्जाओं के साथ प्रदर्शित करना गुप्त शिल्पी की मौलिक प्रतिभा की देन रही है।''[2] यथा देवत्व का आभास देने के लिए बुद्ध मूर्ति में प्रभामंडल का प्रदर्शन गांधार कला शैली की महत्वपूर्ण विशेषता है। जिसे गुप्त—युग में गोलाकार और अण्डाकार रूप में बेलबूटों की नक्काशियों के द्वारा अलंकृत कर आर्कषक रूप में प्रदर्शित करने की परम्परा प्राप्त होती है। गुप्तकला में परिष्कृति ओर इन्द्रियनिग्रह (संयम) का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। गुप्तकलाकारों ने मात्रा की अपेक्षा लावण्य पर अधिक बल दिया, वस्त्रों आभूषणों तथा अन्य सजावटी वस्तुओं के प्रयोग में गम्भीरता दिखाई पड़ती है। गुप्तकाल में अभिव्यक्ति की सरलता है। अध्यात्मिकता का उद्देश्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पुराणों ओर प्राचीन शिल्प ग्रंथों में वास्तु मूर्ति—प्रतिष्ठा तथा कर्मकाण्ड के इस पारस्परिक संबंध पर विशेष शास्त्रीय विचार एवं निर्देशों का परिपालन गुप्तकाल में संग्रहित मिलने लगता है। जिनमें मत्स्य पुराण, विष्णुधर्मोत्तर—पुराण, विश्व धर्म प्रकाश, वृहत्संहिता आदि उपलब्ध है।

2. उद्देश्य

वस्तुतः इस काल में कला का उद्देश्य उसकी सामान्य रचना प्रक्रिया से ऊपर उठकर दैवी—भाव की साधना का मार्ग स्वीकार किया गया, शिल्पी तथा भक्त दोनों के लिए वह जीवन के सामान्य भौतिक स्तर से ऊपर आध्यात्मिक चैतन्य की स्वीकृति थी। जैसा कि जैमिनीयाश्रमेधिक पर्व के एक लेख से प्रतिध्वनित है — नृत्यतां गायतां चैव नानावाद्यं प्रकुर्वताम्। यथा संतुष्यते देवो न ध्यानाधैरितिश्रुतम।[3] इसका अभिप्रेतार्थ है कि न केवल ध्यान या समाधि द्वारा देवता को प्रसन्न किया जा सकता है। बल्कि भाव मग्न नृत्य, गायन तथा वाद्य भी उसे संतुष्ट करते हैं।[4] गुप्तकाल में सौन्दर्य एवं कला जीवन में समाविष्ट हो चुकी थी श्रीमती गुर्टू के शब्दों में ''मौर्यकालीन रूढकला परम्पराओं का अतिक्रमण कर, कला चेतना सुदुर अतीत के गौरव से मंडित अभ्यन्तर प्रकाश की तृष्टि से जगमगा उठी थी।''[5] कला के विविध अंग जैसे तक्षण (भास्कार्य) कला, वास्तुकला, चित्रकला और पकी हुई ईंटों की मूर्तिकला ने वह परिपक्वता, संतुलन और अभिव्यक्ति की स्वाभविकता प्राप्त की थी जिसकी श्रेष्ठता को आज भी कोई प्राप्त नहीं कर सका है।[6] गुप्तकला के जिन आदर्शों, तत्वों और प्रतिमाओं को परवर्ती परम्परा ने दाय के रूप में स्वीकार किया, उनमें से विशेष रचनात्मक विधानों और परिभाषा सूत्रों का पुर्नअवलोकनोपरान्त स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि गुप्तकालीन कला के दृष्टिकोण में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। कलाकारों के द्वारा रूप के साथ—साथ दैवी भावना की झांकी प्रस्तुत करने का सफलतम प्रयास किया गया। शारीरिक सौष्ठव के विकास का जो प्रयास किया गया उसका मुख्य कारण शरीर को एक मंदिर माना गया था, जिसके भीतर आत्मा रूपी देव का वास रहता है। उल्लेखनीय है कि सौन्दर्य और आचार तत्व दोनों के समागम से गुप्तकालीन कला ने दैवी सौन्दर्य की छटा बिखेरी थी। गुप्तकालीन कला में स्थूल जगत की रूपाकृति तो है किन्तु मुख पर झलकते भावों से स्पष्ट हो जाता है कि शिल्पकारों में सांसारिक भावों से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता से साक्षात्कार करने की लगन थी। वाह्य सौन्दर्य और आत्मिक भावों में अनूठा संगम गुप्तकालीन मूर्तिकला में देखने को मिलता है।[7] सम्भवतः भौतिक उपलब्धियों के साथ—साथ उच्च आध्यात्मिक आदर्शों की सर्वत्र स्थापना ही इस काल का मुख्य उद्देश्य था।

3. वास्तुकला

भारतीय कला, साहित्य की भाँति ही लक्षणा शक्ति से समृद्ध है। इसके बाह्य रूप में स्थित अन्तःभाव मानव मन को चिन्तन के लिए विवश करता है। अन्तःशक्तियों के अभिव्यक्ति के लिए रूप आकार की आवश्यकता होती है, फलस्वरूप स्थापत्य कला एवं कला के अद्भूत संयोग के साथ उद्घाटित होती है।

वास्तुकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यह शब्द 'वस' धातु से बना है। जिसका अर्थ है एक स्थान पर निवास करना।[8] वास्तु विधा मानव सभ्यता की अनुगामिनी रही है। मनुष्य ने आखेटक एवं खाध संग्राहक के रूप में प्रकृति निर्मित गिरि गुफाओं व छायादार वृक्षों को ही अपने निवास का साधन बनाया। सभ्यता के सोपानों पर आरोपण करते हुए प्रकृति प्रदत्त आवासीय संसाधन अपर्याप्त प्रतीत होने लगे। आदिमानव ने प्रकृति वास साधनों के अनुकरण पर घास—फूस काष्ठ निर्मित कुटीरों को निज आश्रय स्थल के रूप में निर्माण किया। इस प्रकार सभ्यता के उतरोत्तर विकास क्रम में साथ ही अपने आवास—गृहों में विविध्य स्थापित किया। इसी क्रम से वास्तु की योजना, निर्माण और स्वरूप का विकास हुआ।

वास्तुकला ऋग्वेद से अर्थशास्त्र तक विभिन्न धर्मग्रन्थों में प्रमुख अध्याय के रूप में प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र के 16 वें अध्याय

में कौटिल्य ने नगर विन्यास का विवरण देते हुए दुर्ग–रचना, परिखा, खात, प्राकार, राजमार्ग वीथियों एवं जलमार्गों का वैज्ञानिक विधान प्रस्तुत किया है।[8] भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से भी वास्तुज्ञान परिचय प्राप्त होता है।

वास्तु, मूर्ति तथा चित्र के शास्त्रीय विवेचन गुप्तयुग से प्राप्त होने लगते हैं। वृहतसंहिता गुप्तयुग का गणित या ज्योतिषशास्त्र है, किन्तु इसे वास्तुशास्त्र, प्रतिमाशास्त्र या चित्रशास्त्र का प्रथम ग्रंथ भी माना जा सकता है। वृहतसंहिता में स्पष्टतः उल्लेखित है कि वास्तुशास्त्र ब्रह्म से उत्पन्न कलाकारों की परंपरा से विकसित हुआ है। ''वास्तुज्ञानमथातः कमलभवान्मुनि पराम्परायातम्'' ।[9]

रामायण, महाभारत, समरांगण सूत्रधार, मानसार आदि ग्रंथों के नगर, फुट निर्माण के संबंध में समुचित जानकारी प्राप्त होती है। जिसमें वास्तु निर्माण में निम्नलिखित अंगों का समावेश आवश्यक है–भूमि परिक्षण, भूमि संग्रह (चयन), दिशा निर्धारण, बलिकर्म (पूजन अर्चन), ग्राम या नगर विन्यास, भूमि विधम (विभिन्न मंजिलों वाले भवन), द्वारा निर्माण (गोपुरम), मण्डप निर्माण, राजप्रासाद निर्माण आदि। गुप्तकालीन वास्तु के अन्तर्गत नगर विन्यास, भवन, स्तूप, गुहा एवं मंदिर इत्यादि आवश्यक अंग हैं। जो पुरातन युग (वैदिक युग) से गुप्त तक निरंतर विकासमान रही है।

भारत में मंदिर निर्माण की परम्परा का प्रारूप बौद्ध स्तूपों और चैत्यों में दृष्टिगत होता है। सम्भवतः गुप्तकाल में इन्हीं से प्रभावित होकर मंदिरों का विकास हुआ था। किन्तु गुप्तकाल से ऐसे मंदिरों की संरचना प्राप्त होती है जिनके वास्तुगत स्वरूप का विवेचन नये स्वरूप का विधान प्राप्त होता है।

प्राचीनकाल से ही मंदिर निर्माण परम्परा के साक्ष्य साहित्यों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद, उत्तरवैदिक ग्रंन्थ, रामायण, महाभारत, बौद्धत्रिपिटक एवं जैन आगम, अर्थशास्त्र, महाभाष्य तथा अभिलेखों में भी देवसदन, आयतन यज्ञ स्थान, देवग्रह आदि की सशक्त परम्परा देखी जा सकती है।[10]

मंदिर वास्तु की अवधारणा उसके धार्मिक स्वरूप में ही निहित है। मंदिरों का प्रारम्भ पूजा वास्तु के रूप में हुआ। वृक्षों की छाया में उसके चबुतरे पर अधिष्ठात् देव के प्रतीक को प्रतिष्ठित होने की प्रथा देव–उपासना के आरंभिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। महाभारत ;सभापर्व 38द्ध में वास्तुकला का विशेष परिचय प्राप्त होता है। भवनों में वर्णित शिल्प कला उच्चकोटि की थी।[11]

''यस्तु प्रासाद मुख्यो•त्र विहितः सर्वषिल्पिभिः
अतीव रम्य सों•यत्र प्रहसन्निव तिष्ठिति''

वस्तुतः मंदिर की संकल्पना भवन के रूप में न होकर वास्तु–पुरूष (देवता) के रूप में की गई है। इसलिए मंदिर के विभिन्न अंगों को भागवत धर्म में भगवान के शारीरिक स्वरूप का विचार व्यक्त किया गया है।[12] तथा वास्तु–पुरूष (देव) के अंगों के समान अभिकल्पित किया गया उदाहरणार्थ–चरण चौकी (अधिष्ठान या चबूतरा), पाद, जंघा, कटि, वक्ष, स्कन्ध, ग्रीवा, ललाट, मुख, नासिका, शिखा (शिखर) आदि। शरीर तब तक निष्प्राण होता है जब तक जीवात्मा का उसमें निवास न हो ठीक उसी प्रकार देव मूर्ति की स्थापना प्राण प्रतिष्ठा के बाद ही मंदिर को देवालय समझा जाता है। प्राण प्रतिष्ठा गुप्तकाल की नई कल्पना नहीं थी, ईसा पूर्व शताब्दी के लेखों में भगवान बुद्ध के अवशेष को (प्राणसमेत) कहा गया है।[13] ''प्राण समेत शरीर भवगत शक मुनिस'' मानसार में सर्वप्रथम देव ग्रंथों के लिए मंदिर शब्द का प्रयोग हुआ जो कलान्तर में पवित्र भवनों के लोकप्रिय वास्तु के रूप में निर्मित हुआ। देवालय, देवकुल, देवाआयतन तथा देवग्रह इत्यादि शब्द प्राचीन साहित्य एवं लेखों में प्रयुक्त हुआ है।[14] प्रारम्भिक वास्तु शास्त्रों एवं गुप्तलेखों में मंदिर को प्रासाद कहा गया है। मंदिर को राजराज की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है इसलिए राजा के समान आसन पादपीठ, छत्र, राजग्रह (गर्भगृह), सभागृह, परकोटे तथा राजवन्दना (देवोपासान) की परम्परा मंदिरों में भी दृष्टिगत है।

उपर्युक्त तथ्यों के अनुशीलन से यह आभासित होता है कि स्तूप, चैत्य ग्रह एवं विहार परम्परा बौद्धयुग के पूर्व भी प्रचलित थी, सम्भवतः इन वास्तु विधाओं का उद्भव स्त्रोत ही मंदिरों के लिए प्रेरक हुए। देवालय निर्माण की यह परम्परा उर्ध्वसंरचना (ऊर्ध्वपृच्छादन–विन्यास) से विहीन एवं तल–विन्यास (भूमियोजना) तक ही सीमित थी।15 गुप्तकाल आते–आते मंदिर वास्तु का एक व्यवस्थित क्रम प्राप्त होता है। गुप्तों के पूर्व मंदिर अवश्य प्राप्त होते है पर उनका व्यवस्थित रूप–रेखा का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। झांसी के आगे सोनगिरि पर्वत पर अनेक जैन मंदिर समूह हैं वहाँ सम्पूर्ण पर्वत को ही मंदिर में परिवर्तित कर दिया गया है। मंदिर सं. 47 आज भी प्राचीनतम मंदिर शैली का उदाहरण है। जिसमें आयताकार छोटा कमरा तथा उसकी दिवारों को पत्थर की पटियों के द्वारा जोड़कर बनाई गई है। छत सपाट है जिसे भी पत्थर की पटियों द्वारा ही जोड़ा गया है। सामने की दीवार के बाहर दो चौड़ी पटियाँ किनारे पर खड़ी की गई हैं। सम्भवतः यही इसका प्रवेशद्वार रहा हो। फर्श भी नहीं बना हुआ है। पहाड़ की सतह ही इसका फर्श है इसलिए इसमें चढ़ने के लिए सीढ़ीयों की आवश्कता नहीं है। मंदिर के पाषाण पूर्णतः अनगढ़ हैं, सम्भवतः इन्हीं मंदिर विन्यास के पश्चात ही व्यवस्थित मंदिरों का विकास हुआ हो, तत्पश्चात एक निश्चित योजना में बने गुप्त कालीन मंदिर प्राप्त होते हैं जिनमें गर्भगृह, स्तम्भयुक्त, प्रदक्षिणा पथ तथा सोपान मण्डित जगती पीठ आदि विशेषतायें गुप्तकालीन चिन्तकों, व्यवस्थापकों, कलाकारों एवं शिल्पियों की देन रही है। इन मंदिरों की प्राप्ति सम्पूर्ण भारत में दृष्टिगोचर होती है किन्तु वर्तमान तक ज्ञात सर्वाधिक प्राचीन गुप्तकालीन मंदिर वास्तु की प्रारम्भिक परम्परा मध्य–प्रदेश से ही प्राप्त होती है। इस समय ईंटों के चिने हुए मंदिर बहुत कम प्राप्त हुए हैं किन्तु धीरे–धीरे मंदिरों के अंगों का विकास क्रम दिखाई पड़ता है। जिनके आधार पर कालान्तर में विभिन्न मंदिर शैलियाँ विकसित हुई।

रचनात्मक विशेषता के आधार पर गुप्तकालीन मंदिरों की निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं। वासुदेव उपाध्याय जी ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय स्तूप गुफा एवं मंदिर' ''गुप्त साम्राज्य का इतिहास'' में उल्लेखित किया है।

3.1 गुप्तकालीन प्रारम्भिक मंदिरों की विशेषतायें (चित्र 1–4)

1.गुप्त मंदिरों की स्थापना एक ऊँचे चतुष्कोणिय चबुतरे पर हुई थी।
2.जिन पर चढ़ने के लिए चारों ओर सोपान निर्मित किया गया था।
3.प्रारम्भिक मंदिरों की छते चिपटी होती थी किन्तु बाद के मंदिरों में शिखर प्राप्त होते हैं।[16]
4.मंदिरों के बाहरी दिवारें सादी होती थी।
5.गर्भगृह में एक प्रवेश द्वार था, जिसमें प्रतिमा स्थापित रहती थी।
6.द्वार स्तम्भ अलंकृत होते हैं। इसी स्तम्भ में पूर्ण कलश की आकृति दिखाई पड़ती है। उसी कलश से पुष्प बाहर निकले दृष्टिगोचर होते हैं। उन स्तम्भों पर बेलबूटे भी उत्कीर्ण हैं। पूर्ण कलश वैभव के प्रतीक हैं।[17]
7.द्वार के दोनों पार्श्व में द्वारपाल के स्थान पर गंगा एवं यमुना की मूर्ति उत्कीर्ण होती है। गंगा को मकर वाहिनी तथा यमुना को कूर्मवाहिनी दिखाया गया है। ब्राऊन के अनुसार–बौद्ध युग की यक्षिणी या शाल भंजिका का समादर न रह गया हो और उसका स्थान ब्राह्मण धर्म में गंगा, यमुना ने ले लिया।[18]
8.गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ रहता है, जो छत से आच्छादित है।
9.मंदिर के वर्गाकार स्तम्भों के शीर्ष पर चार सिंह की मूर्तियाँ पीठ से पीठ लगी निर्मित हैं, जिन पर छत का भार रहता था।
10.गुप्तकालीन मंदिरों के गर्भगृह में प्रतिष्ठित प्रतिमा के केवल पूजन निमित आकार–प्रकार निर्मित थे, उस स्थान पर उपासक जनता के सभास्थल का सर्वथा आभाव दिखाई देता है।
11.भितरी गाँव कानपुर, लक्ष्मण मंदिर सिरपुर के अपवाद के अलावा शेष मंदिर तराशे हुए पत्थरों के बने हुए हैं।
12.गुप्तयुग में पौराणिक धर्म की प्रधानता के कारण वैष्णव, शैव, सूर्य आदि के अनेक मंदिर निर्मित किये गये।

गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल के मंदिरों में ऐसे साक्ष्य जो गुप्तकाल के अन्तर्गत आते हैं, वे प्रायः सम्पूर्ण भारत, पाकिस्तान तथा बाग्लादेश से मिले हैं। किन्तु गुप्तकालीन सर्वाधिक मंदिर मध्यप्रदेश में सुरक्षित अवस्था में हैं।[19] इस काल में मध्य–प्रदेश में तीनों अवस्थाओं के मंदिर प्राप्त हैं तथा विकास के तीनों चरणों को देखा जा सकता है। यह मध्य–प्रदेश का सौभाग्य ही है कि स्वर्ण युग कहे जाने गुप्तकाल के मंदिरों के सर्वाधिक साक्ष्य मध्य–प्रदेश से प्राप्त हैं। मध्य–प्रदेश क्षेत्र में मंदिर वास्तु प्राप्ति स्थल–साँची, तिगोवा, एरण, नचना–कुठार, भूमरा, खोह, कुण्डा, पठरी, देवरी, उदयगिरि, बेस नगर, मंदसौर, तुमैन, साकोर, सिरपुर आदि मुख्य हैं।[20] इसके अतिरिक्त भारत के अन्य क्षेत्रों से भी गुप्तयुगीन मंदिर वास्तु प्राप्त हैं। जिनमें मुख्यतः उत्तर–प्रदेश में (कानपुर) भितरी गाँव, गढ़वा, कौशाम्बी, भीटा, बिलसद, अहिच्छत्र, श्रावस्ती, कुशीनगर, सारनाथ, भितरी, देवगढ़ आदि प्रमुख मंदिर हैं। राजस्थान का मुकन्दन्दर्रा मंदिर, बिहार में राजगिर, बोधगया, नालन्दा, वैशाली आदि से गुप्तकालीन मंदिरों के अवशेष ज्ञात हुए हैं।[21] महाराष्ट्र में तेर तथा गुजरात का गोप मंदिर उल्लेखनीय है। कनार्टक में ऐहोले और आन्ध्र–प्रदेश में चेजराला से गुप्तकाल के कतिपय मंदिर मिले हैं। असम में दह परवतिया नामक स्थान पर स्थित मंदिर गुप्तकालीन माना जाता है। पाकिस्तान में बैग्राम, पट्टन, मुनरा तथा मीरपुररवास में गुप्तकालीन मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं इसके अतिरिक्त बांग्लादेश में बानगढ़, महास्थान, गोकुल आदि से भी गुप्तयुगीन मंदिर अवशेष प्राप्त हुए हैं।[22]

चित्र–1: नचना–कुठार (मध्य–प्रदेश), गुप्तकालीन पार्वती मंदिर ।

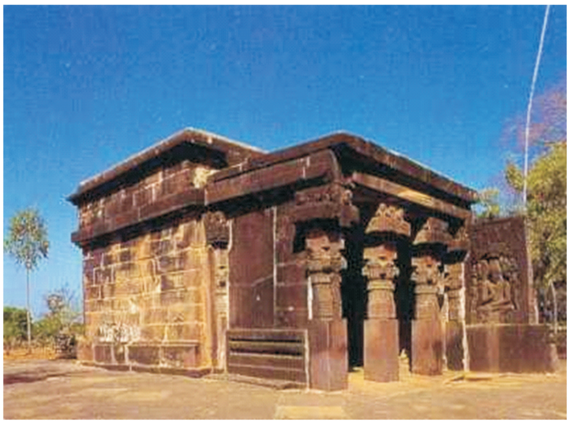

चित्र–2: तिगोवा, (मध्य–प्रदेश), गुप्तकालीन कंकाली देबी मंदिर ।

चित्र–3: भूमरा (मध्य–प्रदेश), गुप्तकालीन शिव मंदिर ।

चित्र–4: देवगढ़ (उत्तर–प्रदेश), गुप्तकालीन दशावतार मंदिर ।

4. मूर्तिकला (चित्र 5–11)

भारत में अति प्राचीन कला से प्रतिमा निर्माण कला के दर्शन होते हैं। प्रतिमा शब्द का शाब्दिक अर्थ है–'प्रतिरूप' अर्थात समान आकृति। पुराणों में कहा गया है कि परब्रह्म यद्यपि शब्द स्पर्श रस, रूप तथा गन्ध इन सबसे शून्य है फिर भी इसके द्विवीध रूप है।[22] प्रकृति व विकृति परब्रह्म के दो रू‍ हैं–

''रूपगन्धरसैहीनः शब्दस्पर्शविर्जितः।
प्रकृति विकृतिस्तस्य द्वे रूपे परमात्मनः'' ।।

प्रकृति का अव्यक्त, अदृष्ट, अलक्ष्य रूप है वही निर्गुण है, निराकार है। इसका कोई आधार नहीं है। इसकी पूजा असम्भव मानी गयी है–

अलक्ष्यं तस्य तद्‌रूपं प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्‌भिरवाप्यते।।

कृत, त्रेता तथा द्वापर युग में व्यक्ति भगवान के स्वयं ही दर्शन कर सकने में समर्थ थे किन्तु कलियुग में ईश्वर की आराधना सगुण साकार रूप हुआ जिसका माध्यम प्रतिमाएँ थी। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार–

अतो भगवतानेन स्वेच्छया यत्प्रदर्शितम।
प्रादुर्भाविष्थथा तदर्चन्ति दिवौकसः।।

भगवान ने स्वेच्छा से अपने सुन्दर रूप को प्रकट किया। उसे देखकर देवगण हर्षित हुए और प्रसन्न होकर उसी रूप की पूजा करने लगे। यही प्रकृति का विकृति रूप है। यह साकार रूप है। इस रूप की पूर्जा–अर्चना द्वारा आराधना की जाती है। साकार रूप आधार पूर्ण होने के कारण सरलता से पूजा जा सकता है। यही ब्रह्म का सगुण रू‍ है।

सकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्व जगत्स्मृतम।
पूजा ध्यानादिकम् कर्तु साकारस्यैव शक्यतै।।

गुप्तकालीन देव मूर्तियों के विकास में एक स्वस्थ कलात्मक और सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करने में राजाओं के साथ ही उनकी प्रजा का भी अभूतपूर्व अनुयोग दृष्टिगत होता है। गुप्तकालीन कलात्मक इतिहास की आधारशिला धार्मिक, सहिष्णुता पर आधारित थी जिनकी पुष्टि अभिलेखों मुद्राओं प्रतिमाओं, मंदिरों, साहित्यिक प्रमाणों से प्राप्त होती है।[22]

कलात्मक भव्यता और रूपोन्यन के लक्ष्य में कृतप्रयत्न गुप्तकलाकार ने स्वयं को अलंकारिता के मोह से प्रायः मुक्त ही रखा है। उसकी रचना अभिव्यक्ति में मंडन की न्यूनता और आकार की सादगी के मूलमंत्र सर्वत्र प्रभारी दिखाई देते हैं। कुषाणयुगीन मथुरा एवं गांधार की अपानगोष्ठियाँ जैसे – उत्प्रेरक तत्व के रूप में प्रयुक्त होने के कारण अमर्यादित एवं असमाजिक प्रतीत होते हैं। मथुरा–मूर्ति की कोमलता और अमरावती शिल्व के सौन्दर्य का अभिनव सम्मिलन गुप्तकालीन मूर्तियों में साकार हुआ। नितान्त आवश्यक गिने चुने आभूषणों और प्रायः अर्ध पारदर्शी वस्त्रों से युक्त शरीर के निजी सौन्दर्य के उद्‌घाटन की ओर गुप्त कलाकार समग्र ध्यान केन्द्रित करने में सफल हो सका।

गुप्तयुगीन मूर्तिकला की प्रमुख विशेषता आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति को प्रधानता प्रदान करना है। इस काल में पौराणिक देवताओं, विशेषकर शिव–पार्वती, विष्णु–लक्ष्मी, गंगा–जमुना आदि का अंकर प्रमुखता से प्राप्त होता है। वस्तुतः इन मूर्तियों के माध्यम से धार्मिक साधना को सरलीकृत रूप देना गुप्त शिल्पकारों का अभिष्ट था। फलतः इस काल की देव–मूर्तियों में आध्यात्मिक क्रान्ति और आन्तरिक शान्ति की छटा व्याप्त है। सारनाथ और सुल्तान गंज से प्राप्त हुई बुद्ध मूर्तियों में जो मानसिक सन्तुलन और आध्यात्मिक सन्तुष्टि दिखाई पड़ती है। वह शिल्पकार के दृष्टिकोण की आध्यात्मिक एवं समर्पण भावना को प्रदर्शित करती है।

गुप्तयुगीन मूर्तिकला में भारतीय प्रतिमाशास्त्र का अनुगमन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि इस काल में प्रतिमाशास्त्र का विकास हो चुका था। वृहत्संहिता में देवताओं की प्रतिमा शास्त्रीय विशेषतायें प्राप्त होती है, गुप्त युगीन कला में उन शास्त्रीय नियमों का परिपालन दृष्टिगत होता है। जैसा कि शैवागमों, वैष्णवागमों, मंत्रों तथा पुराणों में प्रतिमाशास्त्रीय आधार गुप्त मूर्तिकला ने ही प्रदान किया। शारीरिक सौन्दर्य की सृष्टि के लिए विषयानुकूल आसन तथा मुद्राओं का प्रयोग किया गया। मूर्तियों में समभंग, त्रिभंग, वज्रपर्यक अथवा पदमासन, अर्द्धपर्यक अथवा ललितासन, सुखासन आदि मुख्य आसनों से वैविहय उत्पन्न किया गया। इसी प्रकार हस्त मुद्राओं से भी शारीरिक सौन्दर्य का सृजन तथा विभिन्न भावों का अंकन संभव हुआ था। मुख्यतः अभय मुद्रा, वरदमुद्रा ध्यान, भूमिस्पर्श 'बुद्ध के लिए', सिंह कर्ण, कटयव लम्बित, व्याख्यान या धर्मचक्र प्रवर्तन इत्यादि मुद्राओं में मूर्तियों का निर्माण नियमानुसार किया गया।

गुप्त कलाकारों ने बिना समझें अनजाने में ही किसी मूर्ति का निर्माण नहीं किया अपितु उसे एक निश्चित ताल–मान में

निर्मित किया जिससे उसका संतुलन बना रहे। इस माप का उपयोग तालमान के लिए किया गया। हथेली एवं अंगुल के एक निश्चित माप में मूर्तियों को नाप कर बनाने के लिए कलाकारों के द्वारा निश्चित किये माप को 'ताल मान' कहते हैं।

गुप्त युग के पूर्व मानवाकृतियाँ वानस्पतिक जगत से आविर्भूत प्रदर्शित की जाती थी, किन्तु गुप्त कलाकारों की मानवाकृतियाँ केन्द्र बनीं तथा अन्य उपकरण उसके शोभावर्द्धन के लिए होते थे। वैदिक शक्तियों को मानवीकृत करने के लिए उन्हें अर्ध मानव के रूप में प्रदर्शित किया गया तथा कुछ मानवेर रूपों एवं गुणों से संयुक्त किया गया किन्तु इसमें भी केन्द्र मानव रूप ही है।

भारत में मृण्मय मूर्तियों के निर्माण की परम्परा सिंधुघाटी की सभ्यता से चली आ रही है। मौर्य और शुंग काल में मृण्मय मूर्तियाँ बनती रही हैं किन्तु उनकी बनावट बहुत कलात्मक नहीं थी। मौर्य और शुंग काल में मृण्मय कला का माध्यम सामान्य स्तर का है किन्तु इस काल में इसे जो गौरवूपर्ण स्थान प्राप्त हुआ वह गुप्त शिल्पियों की अद्‌भुत कल्पनाशीलता और क्षमता का परिचायक है। साँचे का व्यापक रूप से प्रयोग करते हुए विभिन्न धरातलों पर इस माध्यम का जैसा विकास इस युग में हुआ वह विलक्षण है। विशाल स्तर पर ढ़ले फलक, पटट, इष्टिका और स्तम्भों के द्वारा समूचे धार्मिक वास्तु की रचना अब मानों सांस्कृतिक जीवन की आवश्यकता मान ली गई।

गुप्तकालीन विशेषताओं के अवलोकन से यह विदित होता है कि गुप्तकाल में मूर्ति रचना हेतु पाषाण, धातु एवं मिट्‌टी का प्रयोग किया गया। गुप्तकाल में अनेक ऐसी मूर्तियों की रचना की गई, जिनके उल्लेख के आभाव में गुप्त मूर्तिकला का विवरण ही अपूर्ण होगा। मथुरा, सारनाथ, एरण, देवगढ़, उदयगिरि, मनकुँवर, सुल्तान गंज की बौद्ध मूर्तियाँ तथा राजगृह, बेसनगर, देवगढ़ चन्देरी की जैन मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला को अध्ययन की सुविधा हेतु अधोलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।[22]

4.1 गुप्तकालीन मूर्तिकला का वर्गीकरण

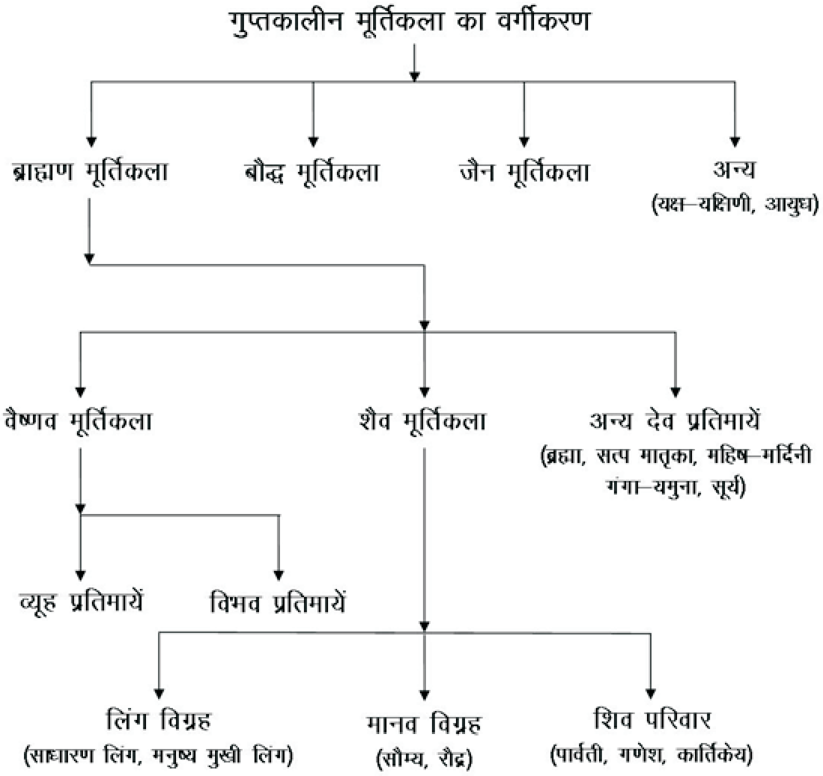

चित्र–5: अनंत शयन विष्णु , शेषशय्या पर (देवगढ, उत्तर–प्रदेश), एक उत्कृष्ट गुप्तकालीन मूर्तिकला ।

चित्र–6: अर्द्धनारीश्वर, भगवान शिव (खजुराहो, म.प्र.) गुप्तकालीन मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट नमूना ।

चित्र–7 : हरिहर भगवान विष्णु का एक अवतार, गुप्तकालीन मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट नमूना ।

चित्र–8 : नरसिंह अवतार, भगवान विष्णु हिरण्यकश्यप का वध करते हुए, एक उत्कृष्ट गुप्तकालीन मूर्तिकला ।

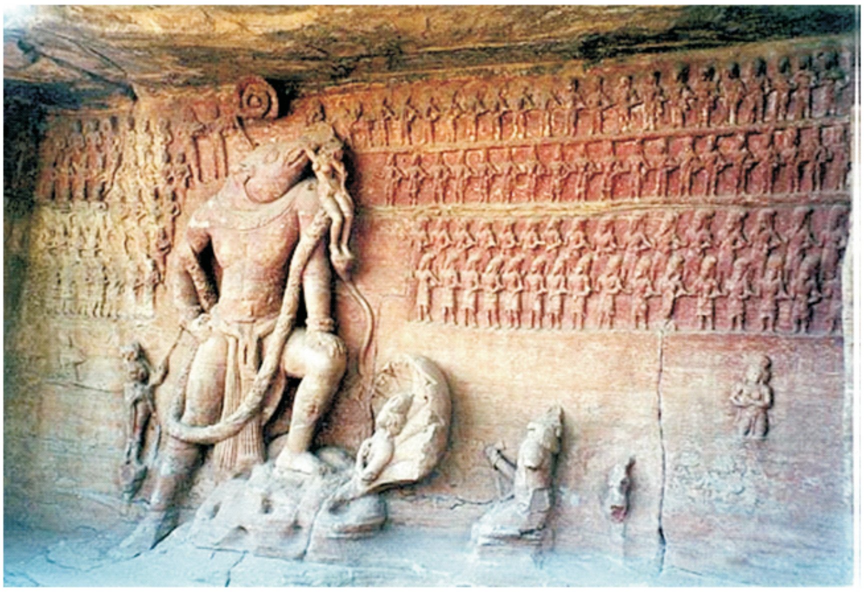

चित्र–9 : वाराह (गुफा सं. 5) विष्णु अवतार (उदयगिरि, म.प्र.), गुप्तकालीन मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट नमूना।

चित्र–10 : भगवान कृष्ण केसी राक्षस (अश्वासुर) का वध करते हुए, एक उत्कृष्ट गुप्तकालीन मृणमय मूर्तिकला।

चित्र–11 : भगवान बुद्ध की एक उत्कृष्ट गुप्तकालीन मूर्ति।

5. चित्रकला (चित्र 12)

गुप्तकाल में चित्रकला अत्यन्त विकसित अवस्था में प्राप्त होती है। वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में ''गुप्तयुग में चित्रकला'' अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। इस युग की चित्रकला का इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण औरंगाबाद जिले में स्थित अजन्ता तथा मध्य–प्रदेश के बाघ गुफाओं से प्राप्त होते हैं। कालीदास ने चित्रकला के शिक्षक के लिए 'चित्रचार्य' शब्द का प्रयोग किया है। भित्ति–चित्रों के जिन अवशेषों की उपलब्धि अजन्ता और बाघ गुफाओं में हुई है वे गुप्त कला की गौरवगाथा कहने में अग्रणी हैं। भित्ति चित्र अजन्ता के समान ही बाघ की चित्रकला भी महत्वपूर्ण है। अजन्ता में चित्र प्रधानतः धार्मिक विषयों से संबंधित हैं पर बाघ के चित्र मनुष्य के लौकिक जीवन से लिए गए हैं। इस मसय के चित्र तत्कालीन वेश भूषा, केशविन्यास तथा अलंकार प्रसाधन समझनें में उपयोगी हैं।

चित्र–12 : अजन्ता (औरंगाबाद) के भित्ति चित्र का विहंगम दृष्य।

6. संगीत, अभिनव एवं नृत्यकला

वास्तुकला एवं चित्रकला के अतिरिक्त गुप्तयुग में संगीत अभिनय कला एवं नृत्य का भी विकास हुआ। मानविकाग्निमित्रम् से विदित होता है कि गुप्तयुगीन नगरों में संगीत की शिक्षा के लिए 'कला भवन' हुआ करते थे। वात्सायन ने संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिकों के लिए अनिवार्य माना है। तत्कालीन शासक वर्ग मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार–विशेष अवसरों पर वाद्य–यंत्र के माध्यम से मनोरंजन करते थे। समुद्रगुप्त, कविता और वाद्य–यंत्र में निपुण था। इसकी पुष्टि उसके वीणाधारी प्रकार के सिक्कों से होती है।

नाटकों में अभिनय को इस युग में उच्चकला माना गया, नाट्यशालाओं के लिए प्रेक्षण तथा रंगशाला शब्द प्रप्त होते हैं। नृत्य की शिक्षा के लिए भी नगरों में आचार्य होते थे मालविका अग्निमित्रम् में गणदस को संगीत एवं नृत्य का आचार्य बताया गया है।[22]

7. सारांश एवं निष्कर्ष

गुप्तकाल बौद्धिक चेतना का महान युग था। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रतिष्ठित है। यह काल ईसवी चौथी शती के आरम्भ से छठी शती के अंत तक माना जाता है। लगभग तीन सौ वर्षों के इस दीर्घ–काल में भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, संगीत के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई। जिसकी पुष्टि तद्युगीन साहित्यिक रचनाओं तथा कलाकृतियों से होती है। गुप्तयुग में मंदिरों, स्तूपों, मठों, प्रतिमाओं आदि का निर्माण देश के विभिन्न क्षेत्रों में दृष्टिगत है।

तालमान एवं प्रतिमा लक्षण के ग्रंथ, शिल्पियों के आदर्श बनें, जिससे कला रूढ़िगत एवं सीमाबद्ध तो अवश्य हुई, किन्तु उनसे बौद्धिक अनुशासन एवं शास्त्रीय ज्ञान की भी वृद्धि हुई। वेशभूषा, शारीरिक रचना, दृश्य, आभूषण एवं शास्त्रीय ज्ञान मर्यादित, आदर्शरूप, सर्वग्राह्य, सर्वदेशीय तथा सर्वप्रिय निर्मित हुए। धार्मिक मूर्तियाँ शास्त्रीय नियमों द्वारा नियंत्रित थी, किन्तु अलंकरण में स्वतंत्रता स्पष्ट दिखाई देते हैं।

समग्र कला के क्षेत्र में गुप्तकाल की उपलब्धियाँ कला के सम्पूर्ण इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। मध्य–प्रदेश गुप्तयुगीन कला राशि की दृष्टि से अत्यंत संपन्न है। समुद्रगुप्त के समय से इस क्षेत्र में एरण की प्रतिष्ठा हुई। प्रारम्भिक वास्तुकला में साँची, उदयगिरि तथा विदिशा के क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

मध्य प्रदेश क्षेत्र का गुप्तयुगीन मंदिर देवगढ़ का दशावतार मंदिर था जो वर्तमान में उत्तर–प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित है। किन्तु भौगोलिक दृष्टि से मध्य प्रदेश के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त भूमरा, नचना, सूकोर, पिपरिया, मढ़ी, तिगवाँ, उचेहरा, बेसनगर, तुमैन, पद्मावती आदि विभिन्न स्थानों पर गुप्त युगीन मूर्ति तथा स्थापत्य कला के बड़े उत्कृष्ट अवशेष प्राप्त है।

यह वह युग था जब भारत में रामायण और महाभारत अंतिम रूप में सम्पादित हुए, और पुराणों तथा अनेक धर्मशास्त्रों का संकलन हुआ। गुप्तयुग में इस प्रकार के उच्च सांस्कृतिक एवं कलात्मक स्तर का कारण यह था कि गुप्त सम्राट एक ओर अद्वितीय वीर

एवं शस्त्रजीवी थे तो दूसरी ओर विद्यावसनी, प्रज्ञावान, प्रजावत्सल, कलानुरागी भी थे। तद्युगीन जनमानस में विविध कलात्मक उपलब्धियाँ सक्रिय हो उठीं। शिल्पियों की पैनी दृष्टि सुविकसित सौंदर्य भावना, विलक्षण रचना कौशल ने महत्वपूर्ण कलाकृतियों का सृजन किया जो स्थाप्त्यकला एवं शिल्पकला में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। गुप्तकला में भारतीय कला के इतिहास में उस स्वर्णयुग का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी विषयवस्तु स्थानीय है इसमें नैतिकता, आध्यात्मिकता एवं शालीनता का उत्तम समन्वय दृष्टिगत है। गुप्तकला स्वतः स्फूर्त कला है इसमें मन को अहलादित करने वाला सौन्दर्य विद्यमान है।

निष्कर्षतः गुप्तशासकों के द्वारा शासित क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत थे शासकों के कला में रूचि के कारण गुप्तकालीन कलाकारों ने उत्कृष्ट हस्त–लाघवता का परिचय दिया, गुप्तकाल के सम्यक अनुशीलनोपरान्त सम्पूर्ण भारतीय कला के स्वर्णयुग को चरितार्थ करती हुई गुप्तयुगीन कला गौरवान्वित करती है। उल्लेखनीय है कि गुप्त्युगीन कलाकारों ने अपने कला में अध्यात्म के साथ–साथ लोक जीवन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित कर लोगों में सौन्दर्य और आनंद की वृद्धि की, साथ ही इस बात पर विशेष बल दिया कि कला–कृतियाँ चरित्र निर्माण में सहायक बनें।

सन्दर्भ सूची

1. पाण्डेय, वी.के. प्राचीन भारतीय कला, वास्तु एवं पुरातत्व, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2013, पृ.–182
2. पाण्डेय, वी.के. प्राचीन भारतीय कला, वास्तु एवं पुरातत्व, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2013, पृ.–182
3. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्तकालीन कला एवं वातु, विश्वविद्यलय प्रकाशन, वाराणसी 1994, पृ.– 71
4. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्तकालीन कला एवं वातु, विश्वविद्यलय प्रकाशन, वाराणसी 1994, पृ.– 71
5. प्राचीन भरतीय कला वास्तु कला एवं मूर्ति कला, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, पृ.–79
6. प्राचीन भरतीय कला वास्तु कला एवं मूर्ति कला, रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर, पृ.–79 / 80
7. श्रीवास्तव,ए.एल. भारतीय कला, किताब महल, इलाहाबाद, 1988, पृ.– 110
8. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्तकालीन कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1994, पृ.– 70
9. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्तकालीन कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1994, पृ.– 70
10. यादव, रूदल प्रसाद, भारतीय कला, विजय प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, 2000, पृ.– 80
11. गुप्त, परमेश्वरी, गुप्त साम्राज्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2011, पृ.– 619
12. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्त कालीन कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2011, पृ. – 72
13. श्रीवास्तव, ए.एल. भारतीय कला, किताब महल, इलाहाबाद, 1988, पृ.– 614
14. यादव, रूदल प्रसाद, भारतीय कला, विजय प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, 2000, पृ.– 216
15. पाण्डेय, राजेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, कृ प्र., हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2002, पृ. – 188
16. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्त कालीन कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1994 पृ.– 72–73
17. गुप्त, परमेश्वरी, गुप्त साम्राज्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2011, पृ.–596
18. अग्रवाल, पृथ्वी, गुप्त कालीन कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1994 पृ.– 72
19 श्रीवास्तव, के.सी. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो इलाहाबाद, 2003. पृ.–426
20. राय, यू.एन. गुप्त सम्राट एवं उनकी कला–लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ.– 416
21. राय, यू.एन. गुप्त सम्राट एवं उनकी कला–लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ.– 416
22. राधिका, गुप्त कालीन कला–मध्य प्रदेश के विशेष संदर्भ में (पी.एच–डी. थीसिस) अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवां (म.प्र.) भारत, 2014